सर्वोच्च न्यायालय की आख्या

पंडित एम. एस. एम. शर्मा

बनाम

डॉ. श्री कृष्णा–सिन्हा और अन्य

(बी. पी. सिन्हा, मुख्य न्यायायधीश, जाफर इमाम, पी. बी. गजेन्द्रगढ़कर, ए. के. सरकार, के. सुब्बा राव, के. एन. वांचू, के. सी. दास गुप्ता और जे. सी. शाह, न्यायमूर्तिगण)

राज्य विधानमंडल–विशेषाधिकार हनन –न्यायालय का निर्णय, यदि पक्षकारों के बीच पुनः निर्णय लिया जाता है–भारत का संविधान, अनुच्छेद 194 (3) 19 (1)(क).

याचिकाकर्ता, पटना से प्रकाशित एक अंग्रेजी दैनिक समाचार पत्र, सर्चलाइट के संपादक को बिहार विधानमंडल की विशेषाधिकार समिति के समक्ष कारण दिखाने के लिए बुलाया गया था। विधानसभा की कार्यवाही के सटीक विवरण को प्रकाशित करने के लिए अध्यक्ष और विधानसभा के विशेषाधिकार हनन के लिए उनके खिलाफ कार्यवाही क्यों नहीं की जानी चाहिए। उन्होंने उक्त कार्यवाही को रद्द करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय का रुख किया और सारतः निर्णय के लिए प्रश्न यह था कि क्या संविधान के अनुच्छेद 194 (3) द्वारा प्रदत्त उक्त विशेषाधिकार संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) के तहत एक नागरिक के मौलिक अधिकारों के अधीन था। यह न्यायालय बहुमत से याचिकाकर्ता के खिलाफ पाया गया। इसके बाद विधानसभा का कई बार सत्रावसान किया गया, विशेषाधिकार समिति का पुनर्गठन किया गया और याचिकाकर्ता को एक नया नोटिस जारी किया गया। वर्तमान याचिका के आधार पर याचिकाकर्ता ने निर्णय को फिर से खोलने की मांग की, एक बार फिर वही विवाद उठाया और तर्क दिया कि बहुमत का निर्णय गलत था। सवाल यह था कि क्या वह ऐसा करने की अनुमति दे सकते हैं।

अभिनिर्धारित, किया गया कि न्यायपालिका प्रांडन्याय के सामान्य सिद्धांत लागू होते हैं और इस न्यायालय के निर्णय को फिर से पुनः विचारित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है और याचिकाकर्ता और बिहार

की विधान सभा को बाध्य करना चाहिए और इस बीच विशेषाधिकार समिति के पुनर्गठन से कोई फर्क नहीं पड़ सकता है।

राज लक्ष्मी दासी बनाम बनमाली सेन, (1953) यस.सी.आर.154, आवेदन किया। चूँकि इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था कि विधायिका के पास अपनी कार्यवाहियों के प्रकाशन को नियंत्रित करने और अपने विशेषाधिकार के किसी भी उल्लंघन को दंडित करने की शक्ति है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि उसके पास अपने कार्य के नियमों के अनुसार अपनी कार्यवाही को जारी रखने का पूर्ण अधिकार क्षेत्र था और प्रक्रिया के नियमों का केवल गैर–अनुपालन संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप के लिए कोई आधार नहीं हो सकता है।

जनार्दन रेड्डी बनाम द स्टेट ऑफ हैदराबाद, [1951] यस.सी.आर. 344, संदर्भित।

विधानसभा के सत्रावसान का अर्थ इसका विघटन नहीं है और इसका एकमात्र प्रभाव इसकी कार्यवाही को बाधित करना है जिसे जारी रखने या उन्हें नवीनीकृत करने के लिए एक नए प्रस्ताव पर पुनर्जीवित किया जा सकता है। इसलिए यह तर्क देना सही नहीं था कि चूंकि विधानसभा का कई बार सत्रावसान किया गया था, क्योंकि विशेषाधिकार के कथित उल्लंघन के बाद, कार्यवाही को समाप्त माना जाना चाहिए।

मूल क्षेत्राधिकार: 1959 की याचिका संख्या 176

मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन याचिका।

याचिकाकर्ता की ओर से बासुदेव प्रसाद, एम. के. राममूर्ति, के. एन. केशवा और आर. महालिंगियर।

प्रार्थियों के लिए लाल नारायण सिन्हा, बी. के. पी. सिन्हा, एल. एस. सिन्हा और बी. पी. वर्मा।

भारत के महान्यायवादी *एम. सी. सीतलवाड़,* भारत के सॉलिसिटर जनरल *सी. के. दफ्तरी, भारत के महान्यायवादी की ओर से एच. जे. उमरीगर और टी. एम. सेन* उपस्थित थे।

1 अगस्त, 1960 न्यायालय का निर्णय दिया गया था द्वरा **सिन्हा मुख्य न्यायमूर्ति:–**

संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस याचिका द्वारा याचिकाकर्ता ने लगभग वही विवाद उठाया है जो 1958 की रिट याचिका संख्या 122, जो इस न्यायालय द्वारा दिनांक 12 दिसम्बर, 1958 के अपने निर्णय द्वारा और 1959 की रिट याचिका संख्या 106, जिसकी सुनवाई इस न्यायालय द्वारा 10,11 और 12,1959 को की गई थी, लेकिन जो इस न्यायालय द्वारा निर्णय के स्तर तक नहीं पहुंची, जहां तक कि याचिकाकर्ता के अधिवक्ता ने न्यायालय से याचिका को वापस लेने की अनुमति देने का अनुरोध किया और न्यायालय ने प्रार्थना को अनुमति दी और याचिकाकर्ता को याचिका वापस लेने की अनुमति दी। इन याचिकाओं में से प्रत्येक में याचिकाकर्ता, जो पेशे से एक पत्रकार है और बिहार राज्य के पटना से प्रकाशित एक अंग्रेजी दैनिक समाचार पत्र "द सर्चलाइट" के संपादक के रूप में कार्य कर रहा है, ने विशेषाधिकार समिति के समक्ष कार्यवाही की वैधता का विरोध किया और विरोधी पक्ष, अर्थात् बिहार के मुख्यमंत्री को विशेषाधिकार समिति, बिहार विधानसभा, विशेषाधिकार समिति के अध्यक्ष के रूप में और बिहार विधानसभा के सचिव को याचिकाकर्ता के खिलाफ 31 मई, 1957 के अपने अंक में प्रकाशन के लिए कार्यवाही करने से रोकने का अनुरोध किया।

एस. आर. दास, मुख्य न्यायाधीश द्वारा *एम. एस. एम. शर्मा बनाम श्री कृष्ण सिन्हा (1)* में दिए गए इस न्यायालय के बहुमत निर्णय में मामले के तथ्यों को बहुत विस्तार से बताया गया है। इस न्यायालय के उपरोक्त निर्णय के प्रारंभिक पैराग्राफ में, न्यायालय के समक्ष पक्षों को गिना गया है और विसंगति को इंगित किया गया है। इस न्यायालय ने प्रभावी रूप से अभिनिर्धारित किया कि संविधान के अनुच्छेद 194 (3) के अधीन किसी राज्य के विधानमंडल के सदन को वही शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ हैं जो यूनाइटेड किंगडम की संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स को संविधान के प्रारंभ में थीं। प्रासंगिक तिथि पर हाउस ऑफ कॉमन्स के पास सदन की कार्यवाही की एक सही और सत्यापित आख्या के प्रकाशन को प्रतिबंधित करने की शक्ति या विशेषाधिकार था और इस तरह की बहस या कार्यवाही के गलत या विकृत संस्करण के प्रकाशन को प्रतिबंधित करने की शक्ति या विशेषाधिकार था। राज्य विधानमंडल के सदन की शक्तियाँ या विशेषाधिकार उन मामलों में हाउस ऑफ कॉमन्स के समान हैं जब तक कि संसद या राज्य विधानमंडल, जैसा भी मामला हो, कानून द्वारा उन शक्तियों या विशेषाधिकारों को परिभाषित नहीं कर सकता है। उस घटना के घटित होने तक किसी राज्य के विधानमंडल के सदन या उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार और

उन्मुक्ति हमारे संविधान के प्रारंभ की तारीख को हाउस ऑफ कॉमन्स की शक्तियों के समान हैं। इस न्यायालय ने यह विचार भी व्यक्त किया कि हाउस ऑफ कॉमन्स की तरह इस देश में विधानमंडल निस्संदेह प्रचार के लाभ की सराहना करेंगे और सकल मामलों को छोड़कर उन शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। दूसरी ओर, न्यायमूर्ति सुब्बा राव द्वारा दिए गए अल्पमत निर्णय में यह विचार व्यक्त किया गया कि प्रासंगिक तिथि पर हाउस ऑफ कॉमन्स को, यहां तक कि इस देश के विधानमंडलों को भी, गुप्त सत्रों को छोड़कर, उन विधानमंडलों की कार्यवाही की सही और सत्यापित आख्या के प्रकाशन को रोकने का कोई विशेषाधिकार नहीं था, और कार्यवाही की गंदी, विश्वासघाती या बहिष्कृत आख्याओं के दुर्भावनापूर्ण प्रकाशन को रोकने का केवल सीमित विशेषाधिकार था। उन्होंने यह भी कहा कि याचिकाकर्ता को विधानमंडल की कार्यवाही की आख्या प्रकाशित करने का मौलिक अधिकार है। नतीजतन, इस अदालत ने, बहुमत के फैसले को देखते हुए, याचिका को खारिज कर दिया, लेकिन लागत के लिए में कोई आदेश नहीं दिया। इस न्यायालय ने आगे कहा कि बिहार विधानसभा अपने विशेषाधिकारों के उल्लंघन के लिए कार्यवाही करने का हकदार है और यह स्वयं सदन को निर्धारित करना है कि क्या वास्तव में इसके किसी भी विशेषाधिकार का उल्लंघन हुआ है।

1958 की रिट याचिका संख्या 122 के इस प्रकार समाप्त होने बाद, याचिकाकर्ता ने संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत फिर से इस न्यायालय का रुख किया था। वह मामला 1959 की रिट याचिका संख्या 06 थी। 5 जनवरी, 1959 को याचिकाकर्ता को एक नोटिस मिला कि उनके खिलाफ विशेषाधिकार हनन के मामले पर विधानसभा की विशेषाधिकार समिति द्वारा 3 फरवरी, 1959 को विचार किया जाएगा। उस सुनवाई को आज तक स्थगित कर दिया गया था, जब तक कि अगस्त 1959 में याचिकाकर्ता ने संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत अपनी याचिका दायर नहीं की। उन्होंने उस याचिका में तर्क दिया कि, भारत के नागरिक के रूप में, याचिकाकर्ता को संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) के तहत भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार था जिसमें प्रकाशन और प्रसार की स्वतंत्रता शामिल थी और बिहार राज्य का विधानमंडल इस प्रकार दावा किए गए अधिकार के विपरीत किसी भी विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकता था। वास्तव में, यह तर्क दिया गया कि संविधान के अनुच्छेद 194 (3) द्वारा किसी राज्य के विधानमंडल को प्रदत्त विशेषाधिकार अनुच्छेद 19 (1) (क) में निहित नागरिक के मौलिक अधिकार के अधीन था। यह भी तर्क दिया गया कि प्रथम प्रतिवादी, बिहार के मुख्यमंत्री, जिनका, यह आरोप लगाया गया था कि बिहार विधानसभा और विशेषाधिकार समिति के अधिकांश सदस्यों पर नियंत्रण था, सदन के विशेषाधिकार के कथित उल्लंघन के लिए याचिकाकर्ता के खिलाफ कार्यवाही शुरू करने में दुर्भावनापूर्ण कार्यवाही कर रहे थे।

हालांकि संदर्भ में नहीं, लेकिन वास्तव में, इस याचिका में उठाए गए बिंदु उन बिंदुओं की पुनरावृत्ति थे जो इस न्यायालय द्वारा 12 दिसंबर, 1958 के अपने फैसले में पहले से ही निर्धारित किए गए थे। याचिका में यह प्रार्थना की गई थी कि अगस्त, 1958 में आयोजित विशेषाधिकार समिति की बैठक की कार्यवाही को रद्द किया जा सकता है और उत्तरदाताओं को 30 मई, 1957 की बिहार विधानसभा की कार्यवाही के उपरोक्त प्रकाशन के संबंध में याचिकाकर्ता के खिलाफ कार्यवाही करने से निषेध के रिट की प्रकृति में एक रिट द्वारा प्रतिबंधित किया जा सकता है। याचिकाकर्ता द्वारा उपरोक्त रूप में इस न्यायालय में अपना रिट आवेदन करने के बाद, बिहार विधानसभा ने विधानसभा की विशेषाधिकार समिति का पुनर्गठन किया और उसी तारीख को विधानसभा के एक सदस्य ने याचिकाकर्ता द्वारा विशेषाधिकार के कथित उल्लंघन के मामले को पुनर्जीवित करने और फिर से संदर्भित करने के लिए उस विधानसभा में एक प्रस्ताव पेश करने की मांग की। बिहार विधानसभा के कुछ सदस्यों ने प्रस्ताव पेश किए जाने पर आपत्ति जताई और विधानसभा अध्यक्ष ने उस आपत्ति पर अपना फैसला देने को टाल दिया। विधानसभा के कुछ सदस्यों के आग्रह पर, विधानसभा के अध्यक्ष ने 20 अक्टूबर, 1959 को सदन में अपनी राय के लिए बिहार के महाधिवक्ता को दो प्रश्न निर्दिष्ट किए, अर्थात् (1) क्या यह विधानसभा के लिए किसी ऐसे मुद्दे पर बहस करने के लिए खुला था जो अनुच्छेद 32 के तहत उच्चतम न्यायालय में याचिकाकर्ता द्वारा दायर की गई रिट याचिका के मद्देनजर विचाराधीन हो सकता है; और (2) क्या वह मामला जो कई बार सदन के सत्रावसान के कारण समाप्त हो गया था, कानूनी रूप से पुनर्जीवित और बहाल किया जा सकता है। 20 अक्टूबर, 1959 को बिहार के महाधिवक्ता ने सदन में भाग लिया और अपनी राय दी, जो यहां कहने के लिए प्रासंगिक नहीं है। 1959 की रिट याचिका, 106 पर आंशिक रूप से सुनवाई की गई और 12 नवंबर, 1959 को वापस लेने की अनुमति दी गई, जैसा कि ऊपर बताया गया है।

24 नवंबर, 1959 को, याचिकाकर्ता को विधान सभा के सचिव से एक नया नोटिस मिला, विरोधी पार्टी संख्या 3, याचिकाकर्ता से 1 दिसंबर, 1959 को या उससे पहले कारण बताने का आह्वान करते हुए, अध्यक्ष और विधानसभा के विशेषाधिकार के उल्लंघन के लिए उसके खिलाफ उचित कार्रवाई की सिफारिश क्यों नहीं की जानी चाहिए। याचिकाकर्ता ने फिर से संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत कार्यवाही शुरू की और शिकायत की कि प्रस्ताव को बिहार की विशेषाधिकार समिति द्वारा अपनाया गया है। 23 नवंबर, 1959 को आयोजित अपनी बैठक में विधान सभा ने संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) के तहत गारंटीकृत उनके भाषण और अभिव्यक्ति के मौलिक अधिकार को समाप्त कर दिया और यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन करते हुए याचिकाकर्ता की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए एक अवैध और दुर्भावनापूर्ण खतरा था। 2

के पास याचिकाकर्ता के खिलाफ कार्यवाही करने का कोई अधिकार क्षेत्र या अधिकार नहीं था जैसा कि उपरोक्त नोटिस द्वारा धमकी दी गई थी।

हमले के आधार काफी हद तक वही सवाल उठाते हैं जो इस अदालत में पिछले अवसरों पर उठाए गए थे। हमारे समक्ष यह तर्क दिया गया था कि भारत के नागरिक के रूप में याचिकाकर्ता को बोलने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार है, जिसमें उस समय की घटनाओं की जल्द से जल्द और सबसे सही खुफिया जानकारी प्राप्त करने की स्वतंत्रता शामिल है, जिसमें एक विधानमंडल की कार्यवाही और उसे प्रकाशित करना शामिल है और यह कि किसी राज्य का कोई भी विधानमंडल उस अधिकार को कम करने के लिए विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकता है। अतः यह तर्क दिया गया कि इस न्यायालय का बहुमत निर्णय *पं. एम. एस. एम. शर्मा बनाम श्री श्रीकृष्ण सिन्हा (1)* गलत था, इस संबंध में यह भी तर्क दिया गया कि इस न्यायालय द्वारा अपने पिछले निर्णय में अपनाए गए निर्माण के नियम को गलत तरीके से लागू किया गया था। यह आगे तर्क दिया गया कि भले ही किसी राज्य विधानमंडल के सदन के पास हाउस ऑफ कॉमन्स की समान शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तिएं हों, वे केवल वही होंगी जो वास्तव में संविधान के प्रारंभ की तारीख को प्रयोग की जा रही थीं और इसकी कार्यवाही के प्रकाशन को रोकने का अधिकार उन शक्तियों, विशेषाधिकारों या उन्मुक्तिओं में से एक नहीं था। संविधान के अनुच्छेद 21 में एक अपील की गई थी और हमने यह तर्क दिया था कि किसी भी नागरिक को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है। इसलिए, हमने आगे तर्क दिया कि प्रतिवादी 1 और 2 का दुर्भावनापूर्ण कार्य याचिकाकर्ता को मामले को उसके मौलिक अधिकार के लिए खतरा दिखाने के लिए कहता है और अंत में यह जोड़ा गया था कि गंभीर सत्रावसान के बाद, विशेषाधिकार की पिछली कार्यवाही समाप्त हो गई थी और अधिकार क्षेत्र 23 नवंबर, 1959 के प्रस्ताव के अनुसार नया नोटिस जारी करता है, जिसमें कार्यवाही को पुनर्जीवित किया गया था।

इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि वर्तमान कार्यवाहियों में भी वही प्रश्न हैं जिन पर 1958 की रिट याचिका संख्या 122 में चर्चा की गई और निर्धारित कर दिया गया था, एक बार फिर से उठाने की मांग की गई है। यह तर्क दिया जाना चाहिए कि इस न्यायालय का पिछला निर्णय कानूनी स्थिति की गलत सराहना पर आगे बढ़ा है। संक्षेप में, यह जोर देकर कहा जाता है कि याचिकाकर्ता को बिहार विधानमंडल की कार्यवाही को प्रकाशित

करने का मौलिक अधिकार है और वह विधानमंडल अपनी कार्यवाही के प्रकाशन को प्रतिबंधित या नियंत्रित करने की कोई शक्ति नहीं रखता है।

विरोधी पक्ष की ओर से बिहार के सरकारी अधिवक्ता ने प्रथम दृष्टांत में यह तर्क दिया है कि पक्षकारों, अर्थात् विशेषाधिकार समिति के अध्यक्ष और सदस्यों, प्रत्यर्थी 1 और 2 के विरुद्ध वर्तमान रिट याचिका न्यायिक निर्णय के सिद्धांत द्वारा वर्जित है और इसलिए विचारणीय नहीं है। उनका तर्क यह है कि रिट किसी व्यक्तिगत सदस्य के खिलाफ या समग्र रूप से विधानमंडल के सदन के खिलाफ जारी नहीं कर सकती है, जो उसने अपनी कार्यवाही के प्रकाशन को प्रतिबंधित करने या किसी भी दर पर नियंत्रित करने के अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए किया है।

याचिकाकर्ता की ओर से श्री बासुदेव प्रसाद ने यह तर्क दिया कि प्रत्यर्थी संख्या 2 की समिति का इस न्यायालय के पहले निर्णय के बाद उपरोक्त रूप में पुनर्गठन किया गया है, जिसका *प्राङ्न्याय* के रूप में लाभ उठाने की मांग की गई है और इसलिए *प्राङ्न्याय* नियम लागू नहीं होता है। इस संबंध में यह इंगित किया जा सकता है कि 1958 की रिट याचिका संख्या 122 में, बिहार के मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिन्हा को विरोधी पक्ष संख्या 1 बिहार विधान सभा की विशेषाधिकार समिति के अध्यक्ष के रूप में उनकी क्षमता में और विरोधी पक्ष संख्या 2 को बिना कोई नाम दिए विशेषाधिकार समिति, बिहार विधान सभा के रूप में उद्धृत किया गया था। वर्तमान रिट याचिका में, विरोधी पक्ष संख्या 1 एक ही है। इसके विपरीत पार्टी संख्या 2 को बिहार विधान सभा की (नई) विशेषाधिकार समिति के रूप में शामिल किया गया है और फिर अध्यक्ष के रूप में मुख्यमंत्री डॉ. श्री कृष्ण सिन्हा सहित कई नाम दिए गए हैं। क्या इससे कोई फर्क पड़ेगा कि हालांकि विरोधी पक्ष संख्या 2 क्या विशेषाधिकार समिति है, इसके कर्मचारी 1958 में गठित विशेषाधिकार समिति से अलग हैं? हमारी राय में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जब तक विधानसभा वही रहती है, तब तक विधानसभा के कामकाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपनी समितियों का पुनर्गठन करने के लिए विधानसभा के लिए खुला रहता है। विशेषाधिकार समिति उन एजेंसियों में से एक है जिसके माध्यम से विधानसभा को अपना कार्य करना होता है। यह वास्तव में समग्र रूप से विधानसभा है जो याचिकाकर्ता के खिलाफ अपनी शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्ति के कथित प्रयोग में कार्यवाही कर रही है जैसा कि इस न्यायालय ने 1958 की रिट याचिका संख्या 122। इस न्यायालय ने *राजलक्ष्मी दासी बनाम बनमाली सेन (1)* के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायालय के विरुद्ध अंतर्निहित सिद्धांत उस प्रश्न के संबंध में लागू होता है जिसे

उठाया गया है और पूर्ण प्रतिवाद के बाद निर्णय लिया गया है, भले ही पहले अधिकरण को, जिसने मामले का निर्णय किया था, उप–अनुक्रमिक वाद का विचारण करने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं हो सकता है और भले ही विवाद का विषय दोनों कार्यवाहियों में बिल्कुल समान न हो। उस मामले में भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही में मुकदमेबाजी पर *प्राङ्न्याय* का नियम लागू किया गया था। उस मामले में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के प्रावधानों के बजाय न्यायिक प्रक्रिया के नियम से संबंधित कानून के सामान्य सिद्धांत मामले में लागू किए गए थे। *प्राङ्न्याय* का नियम उचित प्रतिस्पर्धा के बाद और विवाद में रुचि रखने वाले पक्षों को सुनने के बाद किए गए निर्णय को अंतिम रूप देने के लिए है। इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि हालांकि उस नाम से हम विरोधी पक्ष संख्या 2 समान नहीं थे, लेकिन इस निष्कर्ष से कोई बच नहीं सकता है कि विशेषाधिकार समिति एक ही समिति है, चाहे वह किसी दिए गए समय पर अपने कर्मियों की हो, जब तक कि वह एक ही विधान सभा द्वारा गठित समिति थी। पिछले अवसर पर इस न्यायालय द्वारा तय किया गया प्रश्न काफी हद तक बिहार राज्य के पूरे विधानमंडल को प्रभावित करने वाला प्रश्न था और सामान्य महत्व का था और विशेषाधिकार समिति के विशेष संविधान पर निर्भर नहीं था। इसलिए, यह नहीं कहा जा सकता है कि इस न्यायालय द्वारा पिछले अवसर पर तय किए गए प्रश्न पर मूर्खतापूर्ण बहस नहीं हुई थी और दोहरे विचार–विमर्श के बाद निर्णय नहीं लिया गया था। यह कि मतभेद था और न्यायालय का गठन करने वाले न्यायाधीशों में से एक ने दूसरा विचार रखा, केवल यह दर्शाता है कि मतभेद की गुंजाइश थी। यह इस न्यायालय का एक निर्णय था जो याचिकाकर्ता के साथ–साथ बिहार की विधानसभा को भी बाध्य करता है। प्राङ्न्याय के सामान्य सिद्धांतों के अनुप्रयोग के लिए, इस प्रश्न में जाना आवश्यक नहीं है कि पिछला निर्णय सही था या गलत।

हमारी राय में, इसलिए, इस न्यायालय के पिछले निर्णय द्वारा निर्धारित प्रश्नों को वर्तमान मामले में फिर से नहीं खोला जा सकता है और पक्षों के अधिकारों और दायित्वों को नियंत्रित करना चाहिए, जो ऊपर बताए गए हैं, काफी हद तक समान हैं। इसलिए, यह स्पष्ट है कि याचिकाकर्ता का कोई मौलिक अधिकार नहीं है जिसे विरोधी पक्ष द्वारा की गई कार्यवाही द्वारा उल्लंघन किए जाने की धमकी दी जा रही है।

अब याचिकाकर्ता की ओर से उठाए गए अन्य सहायक प्रश्नों पर विचार करना बाकी है। यह तर्क दिया गया कि विधानमंडल के सदन के भीतर अपनाई गई प्रक्रिया नियमित नहीं थी और सख्ती से कानून के अनुसार नहीं थी। इस तर्क के दो उत्तर हैं, पहला, कि इस न्यायालय के पिछले निर्णय के अनुसार, याचिकाकर्ता को वह

मौलिक अधिकार नहीं है जिसका उसने दावा किया है। इसलिए वह अदालत से बाहर है। दूसरा, किसी राज्य के विधानमंडल के भीतर सिन्हा की कार्यवाही की वैधता पर इस आरोप पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है कि कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का सख्ती से पालन नहीं किया गया था। संविधान का अनुच्छेद 212 याचिकाकर्ता की ओर से उठाए गए विवाद के इस हिस्से का पूरा जवाब है। कोई भी न्यायालय उन प्रश्नों में नहीं जा सकता है जो स्वयं विधानमंडल के विशेष अधिकार क्षेत्र के भीतर हैं, जिनके पास अपना कार्य करने की शक्ति है। संभवतः, याचिकाकर्ता की ओर से उठाए गए विवाद के इस भाग का तीसरा उत्तर यह है कि प्रक्रिया के प्रश्न पर विचार करना अभी जल्दबाजी होगी क्योंकि समिति ने अभी तक अपनी कार्यवाही समाप्त नहीं की है। यह भी देखा जाना चाहिए कि एक बार यह अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि विधायिका के पास अपनी कार्यवाहियों के प्रकाशन को नियंत्रित करने और इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकार क्षेत्र है कि क्या उसके विशेषाधिकारों का कोई उल्लंघन हुआ है, तो विधायिका के पास अपने कार्य के नियमों के अनुसार अपनी कार्यवाहियों को चलाने का पूर्ण अधिकार क्षेत्र निहित है। भले ही इसने अपने व्यवसाय के संचालन के लिए निर्धारित प्रक्रियात्मक कानून की आवश्यकताओं का सख्ती से पालन नहीं किया हो, लेकिन यह संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप का आधार नहीं हो सकता है। न्यायालयों ने हमेशा अधिकार क्षेत्र की पूर्ण कमी और अधिकार क्षेत्र के अनुचित या अनियमित प्रयोग के बीच बुनियादी अंतर को मान्यता दी है। प्रक्रिया के नियमों का केवल गैर–अनुपालन संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत एक रिट जारी करने का आधार नहीं हो सकता है– *जनार्दन रेड्डी बनाम द स्टेट ऑफ हैदराबाद (1).*

यह भी तर्क देने की मांग की गई थी कि अवमानना की कार्यवाही का विषय, चाहे वह कुछ भी हो, तीन साल से अधिक समय पहले हुआ था और इसलिए, अवमानना में याचिकाकर्ता के खिलाफ कार्यवाही के लिए यह बहुत पुराना हो गया है। हमारी राय में, यह भी विधानमंडल की अधिकारिता के भीतर का एक मामला है जिसे यह तय करना चाहिए कि क्या यह इतना हाल ही में था कि उसने गंभीर नोटिस लिया था या नहीं, या क्या याचिकाकर्ता के दोषी पाए जाने की स्थिति में किसी सजा की मांग की गई है। ये ऐसे मामले हैं जिनसे इस न्यायालय का कोई लेना–देना नहीं है। प्रतिवादियों की ओर से पेश हुए बिहार के सरकारी अधिवक्ता श्री लाल नारायण सिन्हा ने न्यायालय को सूचित किया कि विधायिका याचिकाकर्ता को कोई सजा देने के बजाय अपने संवैधानिक अधिकारों के समर्थन में अधिक रुचि रखती है। अतः इस विषय पर और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। याचिकाकर्ता की ओर से एक अन्य बिंदु पर विचार किया जाना बाकी है कि विधानसभा को मई, 1957 में याचिकाकर्ता के खिलाफ विशेषाधिकार हनन के लिए कार्यवाही करने की कोई शक्ति नहीं थी, जब हम एक तथ्य के रूप में जानते हैं कि 31 मई, 1957 और 23 नवंबर, 1959 के बीच विधानसभा

का कई बार सत्रावसान किया गया था। हमारी राय में, इस विवाद में कोई सार नहीं है, इस सरल कारण से कि विधानसभा के सत्रावसान का अर्थ इसे भंग करना नहीं है। सदन वही रहता है; केवल इसके सत्र सत्रावसान से बाधित होते हैं। विधानसभा के सदस्यों के समय और ध्यान और विधानसभा के कार्य की मात्रा पर जनता की मांगों की आवश्यकताओं के अनुसार सदन। इस संबंध में मई के संसदीय अभ्यास, 16 वें संस्करण, पृष्ठ 279 में निम्नलिखित मार्ग पर निर्भरता रखी गई थीः–

"सत्रावसान का प्रभाव संसद को फिर से बुलाए जाने तक सभी कार्यों को निलंबित करने के लिए है। न केवल संसद की बैठकें समाप्त हो जाती हैं, बल्कि कॉमन्स द्वारा महाभियोग और हाउस ऑफ लॉर्ड्स के समक्ष अपील को छोड़कर उस समय लंबित सभी कार्यवाही को रद्द कर दिया जाता है। इसलिए प्रत्येक विधेयक को सत्रावसान के बाद नवीनीकृत किया जाना चाहिए, जैसे कि इसे पहली बार पेश किया गया हो।"

ऊपर उद्धृत टिप्पणियां याचिकाकर्ता की ओर से उठाए गए यथासंभव तर्क का समर्थन नहीं करती हैं कि अवमानना की कार्यवाही हमेशा के समाप्त है। सत्रावसान का प्रभाव केवल कार्यवाही को बाधित करना है जो कार्यवाही को जारी रखने या नवीनीकृत करने के लिए एक नए प्रस्ताव पर पुनर्जीवित हुआ। इस मामले में, इस प्रश्न पर यह कहना आवश्यक नहीं है कि क्या सदन के विघटन का अनिवार्य रूप से अवमानना या उससे संबंधित कार्यवाही को पूरी तरह से समाप्त करने का प्रभाव पड़ता है।

हमारी राय में, ऊपर दिए गए कारणों के लिए, इस न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत अपनी शक्तियों के प्रयोग के लिए कोई आधार नहीं बनाया गया है। तदनुसार याचिका खारिज कर दी जाती है। लागत के बारे में कोई आदेश नहीं होगा।

याचिका खारिज कर दी गई।